आचार्य : शास्त्राधिगमहेतूनाम्

प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़
राष्ट्रपतिसम्मानित विद्वान्
पूर्व निदेशक - राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर
पूर्व कुलपति-डॉ. एस.आर राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर

अध्यात्मप्रधान भारतवर्ष में ज्ञान का आदि स्रोत ब्रह्मा को माना गया है। किसी भी विषय से सम्बन्धित प्रारम्भिक ज्ञान ब्रह्मा के मुख से उद्गीरित होकर पृथक् पृथक् विषयों के प्रारम्भिक उपदेश को देवविशेष या महर्षिविशेष ने ग्रहण कर उसे लोक में प्रसारित किया। आयुर्वेद का उपदेश ब्रह्मा के द्वारा ही प्राथमिक रूप से दक्ष प्रजापति को दिया गया है। अतः आयुर्वेद के प्रथम उपदेष्टा एवं आदि गुरु ब्रह्मा ही हैं। लेकिन उन्हें सृष्टि के सृजनकर्ता के रूप में ही महत्त्व प्रदान किया गया है। उन्हें गुरुरूप में प्रतिष्ठित नहीं किया गया, फिर भी गुरुत्व तो ब्रह्मा में है ही।

ब्रह्मा के अनेक नाम हैं, उनमें इनका सृष्ट्युत्पादक स्वरूप ही विशेषेण प्रतिभासित होता है, धाता, विधाता, पितामह, स्रष्टा, वेधा (विदधाति इति), प्रजापति, विश्वसृट् आदि ऐसे अनेक नाम हैं जिनमें इनका सृष्टिकर्ता के रूप में परिचय प्राप्त होता है। अत्यन्त ही शान्त, दान्त, धीर, गम्भीर, चतुर्मुख ब्रह्मा सृष्ट्युत्पादक होते हुए भी ज्ञानपुञ्ज के प्रतीक रहे हैं। ब्रह्मा पद की व्युत्पत्ति करते हुए कोशकार कहते हैं कि "बृंहति वर्धयति प्रजा इति ब्रह्मा"। "बृंहि वृद्धौ शब्दे च (736)" धातु से मनिन् प्रत्यय होकर नकार को "आ" आदेशपूर्वक ब्रह्मा शब्द की निष्पत्ति होती है। मूलतः ब्रह्मन् शब्द से ब्रह्मा बनता है। ब्रह्मा स्वयंभू हैं, अपने आप उत्पन्न हुए हैं, इसीलिए ज्ञान के भण्डार और ज्ञान के प्रारम्भिक उपदेशक भी ब्रह्मा ही रहे हैं।

ब्रह्मा ने ज्ञान को उत्पन्न नहीं किया अपितु स्मरण किया है-

ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत्।
सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन्॥ (अ.हृ.सू.1/3)

स्मृत्वेत्यनेनैतद्दर्शयति ब्रह्मणः स्मर्तृत्वमेवात्र न कर्तृत्वम्। नित्यत्वादायुर्वेदस्य।(अरुणदत्त)

अतः ज्ञान आयुर्वेदसम्बन्धी हो या अन्य किसी भी विषय से सम्बन्धित ज्ञान हो वह ज्ञात किया गया है, ज्ञात किया जाता है और ज्ञात किया जाएगा। ज्ञान कभी भी उत्पन्न नहीं होता इसीलिए ज्ञान को शाश्वत माना जाता है। आयुर्वेद को शाश्वत मानने में यही एक प्रमुख कारण है-

सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च | (च.सू.30/27)

गुरु के रूप में प्राथमिक सम्बोधन बृहस्पतिदेव का किया जाता है। ब्रह्मा के बाद ज्ञान के देवता के रूप में बृहस्पति को माना गया है। पौरोहित्य कार्य एवं अन्य ज्ञानमूलक कार्यों का सम्पादन करने वाले तथा देवताओं को समय-समय पर उपदेश एवं परामर्श देने वाले बृहस्पति में गुरु शब्द सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त किया गया और यह योगरूढ़ भी हो गया।

बृहस्पति को "बृहतां सुराणां पतिः आचार्यः" माना जाता है तथा गुरुपद एवं गुरुस्वरूप प्राथमिक रूप से इन्हीं में प्रतिष्ठित है, "गीर्पतिः" एवं "वाचस्पतिः" स्वरूप को प्राप्त बृहस्पति के विना देवताओं के यज्ञकार्य सम्पन्न नहीं होते थे, ये अपनी मन्त्रशक्ति से देवताओं का रक्षण भी करने में प्रवीण माने गए हैं|

देवलोक में गुरुरूप में प्रतिष्ठित बृहस्पति को देवगुरु माना गया है, उसी तरह पृथ्वी पर प्राथमिक रूप से महर्षि वेदव्यास में गुरुस्वरूप प्रतिष्ठित हुआ है। वेदों का व्यवस्थित रूप में प्रस्तुतीकरण एवं पुराणों की रचना महर्षि वेदव्यास के द्वारा की गई है। गुरुपूर्णिमा को व्यासपूर्णिमा भी कहा जाता है। भारतीय संवत्सर की गणना के अनुरूप वर्ष के चतुर्थ माह आषाढ़ की पूर्णिमा के दिन वेदव्यास जी का जन्म माना गया है, इसी दिन गुरुपूर्णिमा श्रद्धापूर्वक मनाई जाती है, उत्सव रूप में गुरुपूर्णिमा जब से भी मनाई जाती है तब से ही महर्षि वेदव्यास को गुरुरूप में प्रथम पूज्य माना जाता रहा है।

वेद ब्रह्मा के मुख से उद्गीरित हैं, लेकिन इस ज्ञान का प्रसारण महर्षि वेदव्यास ने किया। महर्षि वेदव्यास जी ने पुराणों की भी रचना की तथा सम्पूर्ण सृष्टि में अध्यात्म का सन्देश प्रसारित किया, इसीलिए ज्ञानमूर्ति वेदव्यास जी को गुरु के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इस से यह साङ्केतिक भावाभिव्यक्ति होती है, कि ज्ञान का सामान्य रूप से सभी के लिए प्रसारण करने वाले अथवा व्यक्तिविशेष को ज्ञान प्रदान करने वाले (उपदेश करने वाले) व्यक्तिविशेष को गुरु माना जाता है।

भारतवर्ष में प्रारम्भिक काल में ऋषि-महर्षियों के द्वारा ज्ञान का प्रसार किया जाता था। अनेक प्रकार के ऋषि-महर्षि ज्ञान को देशविशेष में, प्रान्तविशेष में, समाजविशेष में अथवा व्यक्तिविशेष में सङ्क्रान्त करते आए हैं। भारतवर्ष में साधु-सन्तों और परिव्राजकों ने ज्ञान के प्रसार में महती भूमिका का निर्वाह किया है। ये साधु-सन्त शालीन और यायावर दोनों ही प्रकार के हुआ करते थे। शालीन स्थानविशेष पर रहकर इस प्रक्रिया को सम्पन्न करते थे, जबकि यायावर भ्रमण करते हुए ज्ञान का प्रसार किया करते थे। भारतवर्ष में ऋतुचक्र के सामान्य क्रम के अनुरूप सर्दी, गर्मी एवं वर्षा के रूप में छः ऋतुएं मानी जाती रही हैं-

अत्र खलु तावत् षोढा प्रविभज्य कार्यमुपदेक्ष्यते- हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय ऋतवो भवन्ति, तेषामन्तरेष्वितरे साधारणलक्षणास्त्रय ऋतवः- प्रावृट्शरद्वसन्ता इति| (च.वि.8)

प्रावृट् एवं वर्षा ऋतु को मिलाकर चार माह वर्षा के माने जाते हैं, वर्षा के प्रारम्भ में आषाढ़ शुक्ला द्वादशी के दिन से साधु-सन्त चातुर्मास करने के लिए एकस्थानस्थित हो जाते हैं, उसी क्रम में शिष्य गुरुपूर्णिमा का उत्सव उस ज्ञानप्रक्रिया के प्रारम्भिक काल में विधिपूर्वक गुरु की (उपदेष्टा की) पूजा करके ज्ञानयज्ञ का उपक्रम प्रारम्भ करते हैं।

आचार्यः शास्त्राधिगमहेतूनाम्-

शाश्वत एवं अनादि आयुर्वेद का अवतरण उपदेश के माध्यम से हुआ तथा परम्परागत रूप से यह उपदेशमूलक आयुर्वेद निरन्तर अग्रिम सन्ततियों में सङ्क्रान्त होता रहा। इन उपदेशों को तन्त्ररूप में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में आयुर्वेद में संहिताएं प्रथमतः गणनीय हैं। इन संहिताओं में गुरु (उपदेष्टा) के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। चरकसंहिता के सूत्रस्थान के 25 वें अध्याय में कुछ अग्र्य (अग्र्यशब्दः श्रेष्ठवचनः) निर्दिष्ट दिए गए हैं, जो अपने-अपने समूह में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। यथा-

अग्र्याणां शतमुद्दिष्टं यद्द्विपञ्चाशदुत्तरम्|
अलमेतद्विकाराणां विघातायोपदिश्यते || (च.सू. 25/41)

इसी क्रम में आचार्य को शास्त्रप्राप्ति के हेतुओं में अग्र्य (प्रथम गणनीय, सर्वोत्कृष्ट) माना गया है- "आचार्यः शास्त्राधिगमहेतूनाम्"। सामान्य परिभाषा की दृष्टि से इतना ही कह देना पर्याप्त है, कि जो उपदेश देता है वह उपदेष्टा (गुरु) होता है। ज्ञान के उपायों के माध्यम से शास्त्रज्ञान की प्राप्ति करवाने वाले अनेक हेतुओं में आचार्य (गुरु) को ही प्रधान माना जाता है। अधिगम का तात्पर्य है- अर्जन, प्रापण।

त्रिविध ज्ञानोपाय-

चरकसंहिता में ज्ञान के तीन उपाय निर्दिष्ट किए गए हैं- अध्ययन, अध्यापन एवं तद्विद्यसम्भाषा। यथा-

तत्रोपाययाननुव्याख्यास्यामः- अध्ययनम्, अध्यापनं, तद्विद्यसम्भाषा चेत्युपायाः | (च.वि.8/6)।

यह ज्ञानप्राप्ति के समस्त हेतुओं का संक्षिप्तीकरण है। इन तीनों में सम्पूर्ण शास्त्रों के अधिगम (प्रापण) के हेतुओं का समावेश हो जाता है। इन तीनों के माध्यम से शास्त्र की प्राप्ति करवाने वाला आचार्य (गुरु) ही प्रधान (श्रेष्ठ) होता है।

चरकसंहिता में आचार्य (उपदेष्टा, गुरु) के सम्बन्ध में अनेक निर्देश हैं, इन में आचार्य के गुणों को एक स्थान पर भी निर्दिष्ट किया गया है तथा विभिन्न स्थानों पर विशिष्ट गुणों को भी संकेतित किया गया है , उनमें से कुछ विशिष्ट सन्दर्भों के अनुरूप आचार्य (उपदेष्टा ,गुरु) का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

A. आचार्य (गुरु) के सामान्य गुण –

ततोऽनन्तरमाचार्यं परीक्षेत; तद्यथा- पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टकर्माणं दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्तमुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोपपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमनुपस्कृतविद्यमनहङ्कृतमनसूयकमकोपनं क्लेशक्षमं शिष्यवत्सलमध्यापकं ज्ञापनसमर्थं चेति| एवङ्गुणो ह्याचार्यः सुक्षेत्रमार्तवो मेघ इव शस्यगुणैः सुशिष्यमाशु वैद्यगुणैः सम्पादयति || (च.वि.8/4)

अर्थात् उसके बाद आचार्य की परीक्षा (अन्वेषण) करे, वह जैसे- पर्यवदातश्रुत (जो शास्त्र के गुणों (अर्थों) से परिचित होने से निर्मल ज्ञान युक्त हो) तथा परिदृष्टकर्मा हो (प्रत्येक कर्म को जिसने निकटता से देखा हो), दक्ष (अवाम बुद्धि वाला), दक्षिण (कुशल, निपुण, योग्य), शुचि (शारीरिक एवं मानसिक रूप से पवित्र), जितहस्त (हस्तकौशलयुक्त), उपकरणवान् (उपयुक्त उपकरणों से सुसज्जित), सर्वेन्द्रियोपपन्न (सम्पूर्ण इन्द्रियों से युक्त), शिष्य की प्रकृति को जानने वाला, प्रतिपत्तिज्ञ (उचित समय में समुचित रूप से प्रवृत्ति वाला, यथाकर्तव्यतानुष्ठान में दक्ष), अनुपस्कृतविद्य (शास्त्रान्तरज्ञान से युक्त), अनहङ्कृत (अहंकार रहित), अनसूयक (ईर्ष्यारहित), अकोपन (क्रोधरहित), क्लेशक्षम (कष्टों को सहन करने वाला), शिष्यवत्सल (शिष्यों पर पुत्रवत् प्रेम रखने वाला), अध्यापक (अध्यापन कराने वाला), ज्ञापनसमर्थ (समझाने में समर्थ) जो हो उस आचार्य को ढूँढे। जिस तरह सेअच्छे उपजाऊ खेत को वर्षाकालीन मेघ शस्य (धान्य, घास) आदि से सम्पन्न कर देता है, उस तरह से इन गुणों से युक्त आचार्य सुयोग्य शिष्यों को शीघ्र ही वैद्यगुणों से युक्त बना देता है|

B. आचार्य (उपदेष्टा, गुरु) के विशिष्ट गुण-

१. अनुपस्कृतविद्य –

उपर्युक्त सामान्य गुणों में आचार्य ने अनुपस्कृतविद्य भी बताया है उपस्कृत का अर्थ संस्कृत और विकृत ये दोनों ही होते हैं, इसलिए चक्रपाणि ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि- **अनुपस्कृतविद्यमिति शास्त्रान्तरज्ञानेन नास्त्येवोपस्कृता विद्या यस्य स तथा; य आयुर्वेदज्ञः सञ्छास्त्रान्तरेणापि संस्कृतो भवति, स तु नितरामुपादेयः| (चक्रपाणि)**

इसका तात्पर्य यह है कि दूसरे शास्त्र के ज्ञान से नहीं है विकृत विद्या जिसकी वह अनुपस्कृतविद्य होता है। कुछ आचार्य यहाँ उपस्कृतविद्य यह पाठ स्वीकार करते हैं, जिसका तात्पर्य है जो शास्त्रान्तर ज्ञान से संस्कृत हो वह उपस्कृतविद्य होता है।

प्राचीन काल से ही इस बात को स्वीकृत किया गया है कि जो गुरु अपने शास्त्र में तो निपुण हो, लेकिन अन्य शास्त्रों में भी यदि निपुण होता है तो वह ज्ञान को श्रेष्ठतापूर्वक शिष्यों में सङ्क्रान्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि आचार्य (उपदेष्टा, गुरु) जिस विषय का विशेषज्ञ है, उस विषय से सम्बन्धित अन्य शास्त्रों में स्थित ज्ञान को भी वह जानता है, तो अपने विषय का प्रतिपादन श्रेष्ठतापूर्वक कर सकता है।

चरकसंहिता में आचार्य के कुछ विशिष्ट गुणों को एकत्र निर्दिष्ट किया गया है लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य कुछ विशिष्ट गुण भी हैं जो विभिन्न स्थानों पर सङ्केतित हैं, यथा-

2. विपुला बुद्धि –

आयुर्वेद के उपदेष्टा (गुरु) के रूप में प्रतिष्ठित इन्द्र के वैशिष्ट्य को बताने के लिए यह कहा गया है कि **"पदैरल्पैरमतिं बुद्ध्वा विपुलां परमर्षये" (चरक)।**

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गुरु में अल्प पदों से सम्पूर्ण ज्ञान को प्रदान करने का सामर्थ्य होना चाहिए, यह तभी सम्भव है जब शिष्य में विपुला बुद्धि हो। यहाँ शिष्य के रूप में स्थित महर्षि भरद्वाज की बुद्धि को विपुला बताया गया है| इससे ही उपदेष्टा इन्द्र की बुद्धि भी विपुला थी यह संसिद्ध है। विपुला बुद्धि के विना अल्प पदों में जिस तरह से ज्ञान लेना सम्भव नहीं है उसी तरह से ज्ञान देना भी सम्भव नहीं है। आचार्य चरक त्रिविध शिष्यबुद्धि का निर्देश

करते हैं, वे कहते हैं कि- इस प्रकार का शिक्षण होना चाहिए जो अल्प, मध्यम और विपुल बुद्धि वाले तीनों प्रकार के शिष्यों को यथायोग्य रूप से ग्रहण करने में सुगम हो।

सुमहद्यशस्विधीरपुरुषासेवितमर्थबहुलमाप्तजनपूजितं त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोष-मार्षं सुप्रणीतसूत्रभाष्यसङ्ग्रहक्रमं स्वाधारमनवपतितशब्दमकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थ-मर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानं सङ्गतार्थमसङ्कुलप्रकरणमाशुप्रबोधकं लक्षणवच्चोदाहरणवच्च, तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्| (च.वि.8/3)

इस तरह का त्रिविध शिक्षण आचार्य के बुद्धिवैभव पर ही निर्भर है।

३. शास्त्र का वैशिष्ट्य गुरु में भी सन्निविष्ट-

चरकसंहिता में शास्त्र का वैशिष्ट्य बताते समय कुछ विशेष गुणों का उल्लेख किया गया है। शास्त्रों के निर्माता, प्रस्तुतकर्ता और विश्लेषणकर्ता गुरु ही होते हैं, अतः शास्त्र के उपयोगकर्ता के जो विशिष्ट गुण बताए हैं वे गुरु में भी होते हैं। चरकसंहिता में शास्त्र के ये विशिष्ट निर्दिष्ट गुण निम्नानुसार हैं- महद्यशस्विसुधीरपुरुषासेवितम्।

अतः महान्, यशस्वी एवं धीर गुणों से युक्त पुरुष जिन शास्त्रों का सेवन करते हैं वे शास्त्र श्रेष्ठ होते हैं। इस से यह भी सिद्ध है कि ये तीनों गुण शास्त्र का अध्यापन करवाने वाले गुरु में भी होते हैं।

4. शालीन-

जिन ऋषियों ने भरद्वाज को इन्द्र के पास पढ़ने भेजा तथा जिनको भरद्वाज ने वापस आकर ज्ञान दिया, उनमें शालीन और यायावर दोनों प्रकार के ब्राह्मण या ऋषि उपस्थित थे। अतः जब शालीन और यायावर ने शास्त्रज्ञान ग्रहण करने के बाद आचार्य के रूप में यह ज्ञान अपने शिष्यों को दिया तो उन शिष्यों में भी ये दोनों प्रकार प्रतिष्ठित हो गए। यद्यपि शालीन और यायावर की अनेक प्रकार की परिभाषाएं और विश्लेषण पुराणों तथा उपनिषदों में विभिन्न प्रकार से किये गये हैं, लेकिन संक्षेप में यह मान लिया जाना चाहिए कि जो एक स्थान पर स्थित होकर ज्ञान देते हैं वे आचार्य शालीन होते हैं तथा जो घूम घूम कर भ्रमण करते हुए उपदेश देते हैं, वे यायावर होते हैं।

ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टा नातिकल्याश्च प्रायेण बभूवुः| (च.चि.1/4/3)

कभी-कभी एक ही गुरु में ये दोनों गुण भी दिखाई देते हैं, जैसे आत्रेय महर्षि कदाचित् शालीन स्वरूप में और कदाचित् यायावर स्वरूप में अपने शिष्यों को आवश्यक ज्ञान दिया करते थे, जब पंचकर्मसम्बन्धी ज्ञान और चिकित्सासम्बन्धी सैद्धान्तिक और प्रायोगिक ज्ञान देने का क्रम रहा तब उनकी स्थिति शालीन रूप में प्रमुख थी।

5. यायावर-

लेकिन द्रव्यगुणसम्बन्धी विवेचन या विशिष्ट औषधियों के अन्वेषण के समय में उनका यायावर रूप भी दिखाई देता है,यथा-

जनपदमण्डले पञ्चालक्षेत्रे द्विजातिवराध्युषिते काम्पिल्यराजधान्यां भगवान् पुनर्वसुरात्रेयोऽन्तेवासिगणपरिवृतः पश्चिमे घर्ममासे गङ्गातीरे वनविचारमनुविचरञ्छिष्यमग्निवेशमब्रवीत्॥

(च.वि.3/3)

6. शिष्यार्थी –

गुरु विशिष्ट शिष्य या शिष्यों को ज्ञान प्रदान करते थे तथा बाद में वे शिष्य ही गुरुत्व रूप को प्राप्त कर इस ज्ञान का प्रसार आगे किया करते थे | जब तक वह गुरु से प्राप्त ज्ञान को अग्रिम शिष्यपरम्परा में सङ्क्रान्त नहीं कर देते थे तब तक वे गुरुऋण से उऋण नहीं हुआ करते थे-

इन्द्रे त्विदमधिकं- यदयमसङ्क्रामितविद्यत्वेन शिष्यार्थी | यदुक्तं- "यो हि गुरुभ्यः सम्यगादाय विद्यां न प्रयच्छत्यन्तेवासिभ्यः स खल्वृणी गुरुजनस्य महदेनो विन्दति" इति, अतोऽकृतशिष्यत्वेन शिष्यार्थित्वविशेषयोगाद्ब्रह्मादिभ्यो विशेषेणेन्द्र एव शरण्य इति | (च.सू.1/4 चक्रपाणि)

आज भी श्रेष्ठ गुरु के लिए यही स्थिति है |

7. पुण्यकर्मा

आयुर्वेद के अवतरण के क्रम में ज्ञान ग्रहण करने वाले जो ऋषि-महर्षि एकत्रित हुए (समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे (च.सू.1/7)

वे सभी पुण्यकर्मा (पुण्यं पावनं कर्म येषां ते पुण्यकर्माणः) थे, बाद में वे सभी आचार्य (उपदेष्टा, गुरु) के रूप में प्रतिष्ठित हुए। ये सभी आचार्य तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्यव्रतायु भी थे, अतः आचार्य का एक विशिष्ट गुण पुण्यकर्मा भी माना गया है तथा ये सभी तपोपवासादि करने वाले थे।

8. तन्त्रनिर्माण की प्रक्रिया से अभिज्ञ-

गुरु से प्राप्त ज्ञान को शिष्य जब तन्त्ररूप में निबद्ध करते हैं तो उस प्रक्रिया का ज्ञान वे आचार्य से ही गृहीत करते हैं, अतः यह स्पष्ट है कि आचार्य भी तन्त्रनिर्माण की प्रक्रिया से अभिज्ञ होते हैं।

बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तरं मुनेः|
तन्त्रस्य कर्ता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत् || (च.सू.1/32)

9. सूत्रनिर्माण में दक्ष –

शिष्य यदि सूत्रनिर्माण करने की प्रक्रिया में दक्ष होते हैं तो यह सूत्रनिर्माण की प्रक्रिया उन्हें गुरु से ही प्राप्त होती है| गुरु व्याख्येय विषयों का अध्यापन कराते समय विषयों को सूत्ररूप में आबद्ध करते हैं| आचार्य आत्रेय से अध्ययन करने वाले शिष्यों ने पढ़े हुए उन विषयों को अपनी दृष्टि से पुनः सूत्र रूप में आबद्ध किया एवं उनका गुरु से अनुमोदन करवाया-

श्रुत्वा सूत्रणमर्थानामृषयः पुण्यकर्मणाम्|
यथावत्सूत्रितमिति प्रहृष्टास्तेऽनुमेनिरे|| (च.सू.1/34)

अतः यह स्पष्ट है कि आचार्य (गुरु) में विषय को सूत्ररूप में आबद्ध करने का वैशिष्ट्य होना चाहिए।

१०. ज्ञानदेवताओं का प्रवेश –

चरकसंहिता के प्रथम अध्याय में शिष्यों के दीक्षान्त स्वरूप का सङ्केत किया गया है। इस क्रम में आचार्य ने शिष्यों में जिन विशेषताओं को अपरिहार्य माना है, उनका भी सङ्केत है । यह इस बात का द्योतक है कि ये सभी विशेषताएं आचार्य में भी होती हैं तभी वह शिष्यों में इन को सङ्क्रान्त कर पाता है । चरकसंहिता में शिष्यों में बुद्धि-स्मृति इत्यादि ज्ञानदेवताओं का प्रवेश बताया है-

अथाग्निवेशप्रमुखान् विविशुर्ज्ञानदेवताः|
बुद्धिः सिद्धिः स्मृतिर्मेधा धृतिः कीर्तिः क्षमा दया || (च.सू.1/39)

इससे पहले सभी गुरु जब शिष्य रूप में होते हैं तथा शास्त्र में निष्णात होने के चरमोत्कर्ष में होते हैं तब ये सभी गुण उनमें भी प्रविष्ट होते हैं। इसीलिए श्रेष्ठज्ञान की स्थिति के परिचायक बुद्धि, सिद्धि, स्मृति, मेधा, धृति, कीर्ति, क्षमा,

दया इत्यादि से युक्त शिष्य निष्णात माना जाता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि वह अब आचार्य बनने के योग्य हो जाता है। इस से यह सङ्केत भी है कि आचार्य में भी ये गुण पहले से सन्निबिष्ट होते हैं, ऐसे आचार्य इस लोक में प्रतिष्ठा (प्रतिष्ठा जनोपादेयतयाऽवस्थानम्) को प्राप्त करते हैं।

11. सत्त्वोत्कर्ष-

आचार्य (उपदेष्टा, गुरु) मोह, इच्छा,द्वेष इत्यादि विकृत्यात्मक मानसिक भावों से विरहित होना चाहिए, जिस में सत्त्वोत्कर्ष होता है वही श्रेष्ठ आचार्य होता है। प्रमेह के प्रसङ्ग में आचार्य (उपदेष्टा, गुरु) के लिए इस तरह के विशेषणों का प्रयोग किया गयाहै-

निर्मोहमानानुशयो निराशः पुनर्वसुर्ज्ञानतपोविशालः |
कालेऽग्निवेशाय सहेतुलिङ्गानुवाच मेहाञ्शमनं च तेषाम् || (च.चि.6/3)

निर्गता मोहादयो यस्य स तथा; अनुशयः कोपः| निर्गता आशा यस्य स निराशः नीरागः।

चरकसंहिता में अन्य अनेक स्थलों पर विकृत्यात्मक मानसिक भावों का उल्लेख है, इनमें से कुछ को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है, यथा-

कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याह्रीशोकमानोद्वेगभयोपतप्तमनसा रजस्तमश्च मानसौ दोषौ | तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यामानमदशोकचित्तो(न्तो)द्वेगभयहर्षादयः| (च.वि.6/5)

चिन्ताकामभयक्रोधशोकोद्वेगादिभिस्तथा| (च.चि.10/5)

लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्|
नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान्|| (च.सू.7/27)

इन भावों से रहित आचार्य (उपदेष्टा, गुरु) आप्त (रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तः) ही श्रेष्ठ अध्यापन-कार्य सम्पन्न कर सकता है। यहाँ एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि अध्यापन कार्य करवाते समय आचार्य रजोदोष एवं तमोदोष से विनिर्मुक्त हो कर दुराग्रहरहित होता है तभी वह यथार्थ अध्यापन में समर्थ होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य को सर्वदा इन दोनों दोषों से विरहित ही होना चाहिए तथापि किञ्चिद् रजोदोष और तमोदोष से युक्त है, तो भी अध्यापन कराते समय विशेष रूप से इन दोषों से विनिर्मुक्त होकर ही अध्यापन कार्य करना चाहिए , इन दोनों दोषों से विनिर्मुक्त आचार्य में ही आप्तत्व सम्भव है।

12. प्राणभृतां शरण्य -

अपने श्रेष्ठ उपदेशों से सम्पूर्ण प्राणधारियों के कष्ट के निवारणार्थ उपाय बताने वाला तथा शिष्य को भी अपने इन्हीं गुणों से युक्त बना देने वाला आचार्य तथा शिष्यों के प्रत्येक संशय का निवारण करने वाला आचार्य शरण्य माना गया है। शरणमिति रक्षितारम् (च.सू.1/15-17 पर चक्रपाणि) जो शरण देने योग्य हो वह शरण्य होता है।

13. आचार्यत्वावाप्ति -

अध्ययन समाप्त कर लिया है जिसने ऐसा दीक्षा प्राप्त शिष्य गुरु के उन उपदेशों को अग्रिम शिष्यपरम्परा में सङ्क्रान्त करता है तो वह आचार्य पद प्राप्त कर लेता है, ऐसी स्थिति में अपने गुरुओं के उपदेश को ग्रहण करते समय जो शिष्य था वह उन गुरुओं का अब भी शिष्य है लेकिन जब वह उपदेश देता है तो अपने शिष्यों के प्रति गुरुत्व भाव को प्राप्त करता है। इस सन्दर्भ में चरकसंहिता के व्याख्याकार चक्रपाणि कहते हैं कि –

नहि जात्या गुरुत्वमस्ति, यतः स एवात्रेयः स्वगुरुमपेक्ष्य शिष्यः, अग्निवेशादीनपेक्ष्य गुरुः; एवमग्निवेशोऽपि ग्रन्थकरणकाले स्वबुद्धिस्थीकृताञ् शिष्यान् प्रति गुरुरिति न कश्चिद्दोषः| (च.सू.1/2 चक्रपाणि)

14. शाश्वत ज्ञान के सङ्क्रान्तिचक्र का प्रणेता-

शाश्वत ज्ञान की सङ्क्रान्ति का यह एक चक्र है जो ज्ञान गुरु अपने गुरु से प्राप्त करता है उस ज्ञान को वह अपने शिष्य में सङ्क्रान्त करता है वह शिष्य गुरुत्व पद को प्राप्त कर नवीन शिष्य में उसे सङ्क्रान्त करता है , क्योंकि वेद्य, वेदन एवं वेदिता इन तीनों के अस्तित्व से ही ज्ञान के शाश्वतत्व की प्रतीति होती है। इन तीनों के स्वरूप को आयुर्वेद के प्रसङ्ग में इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है-

आयु की विद्यमानता, उसका वेदन (ज्ञान) एवं उस ज्ञान का वेदिता (ज्ञाता) की संस्थिति से आयुर्वेद का शाश्वतत्व है। यथा-

तत्रायुषस्तावदायुर्वेदप्रतिपाद्यस्य नित्यत्वम्| न हि नाभूत् कदाचिदायुःसन्तान इति सर्वदैवायुरपरापरसन्तानन्यायेन विद्यते, आयुर्युक्तानां प्राणिनामनुच्छेदादित्यर्थः| एवं बुद्धिसन्तानोऽपि नहि कदाचिन्नाभूदिति योजना| एतेन तस्यापि सन्तानेन नित्यस्यायुषो वेदनमपि नित्यम्| शाश्वतश्चायुषो वेदितेति अनेनायुर्वेदवेदितृनित्यत्वमुक्तम्| एतेन वेद्यवेदनवेदितृणामनादित्वादायुर्वेदस्य नित्यत्वम्| (च. सू.30/27)

यहाँ आयुर्वेद का अधिकरण होने के कारण आयु से सम्बन्धित ज्ञान का शाश्वतत्व निर्दिष्ट किया गया है, जो साङ्केतिक स्वरूप है। इसी के आधार पर सभी प्रकार का ज्ञान वेद्य, वेदन और वेदिता के स्वरूप के द्वारा शाश्वत स्वरूप में संस्थित है । इस शाश्वतत्व की संस्थिति गुरु के कारण है, गुरु अपने शिष्य में इस ज्ञान को सङ्क्रान्त करता है, वह शिष्य भी गुरुपद पर प्रतिष्ठित होकर अपने शिष्य में उसे सङ्क्रान्त कर देता है। अतः सर्वदा उपदेश देने का कार्य गुरु ही करता है , शिष्य सर्वदा उपदेश ग्रहण करने का कार्य करता है।

श्रेष्ठ शिष्य के कारण वह ज्ञान अग्रिम सन्तति में सङ्क्रान्त होता है, लेकिन प्रदाता सर्वदा गुरु होने के कारण गुरु ही पूजित होता है, इसलिए श्रेष्ठ शिष्य सर्वदा गुरु का अर्चन किया करते हैं और गुरुपूर्णिमा इसके लिए एक साङ्केतिक दिवस है। गुरुपूर्णिमा के दिन वह उसे उत्सव रूप में मना कर स्वयं में उत्साह का निरन्तर सञ्चरण करता है तथा अपने नवागन्तुक कनिष्ठ साथियों (प्रविष्ट नवीन छात्रों) में उत्साह का सञ्चरण कर गुरु के समर्चन की प्रक्रिया भी सङ्क्रान्त कर देता है, यह परम्परा निरन्तर चलती रहती है, जो कि प्राचीन (पूर्वतः प्रतिष्ठित) शिष्यों में सातत्य प्रदान करती है, जबकि नवागन्तुक शिष्यों में समर्चन के भाव इस प्रक्रिया से समारोपित होते हैं।

अज्ञ एवं वैधेय (बालिश, मूर्ख) में भी अवधेय एवं ज्ञेय ज्ञान का आधान कर उसे संशयरहित विज्ञ स्वरूप में संस्थापित कर विधेय (विनयग्राही, आश्रव-आशृणोति), निभृत (विनीत, प्रश्रित) एवं सर्वदा शास्त्रज्ञानप्राप्त्यर्थ समुत्सुक बना दे, वह गुरु (गरिष्ठ गुरु) है। जिस गुरु में अधिसंख्य गुणसमुच्चय संस्थित हो, वही सर्वश्रेष्ठ गुरु होता है।

सन्ध्या का महत्त्व

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलं च सन्ध्या, वेदाः शाखाः धर्मकर्माणि पत्रम्।
तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयम्, छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्।।

ब्राह्मणरूपी वृक्ष की जड़ सन्ध्या (भगवद्भजन) है। वेद उसकी शाखाएँ हैं और धर्म-कार्य उसके पत्ते है। अतः ब्राह्मण को मूल की रक्षा प्रयत्न से करनी चाहिए (अर्थात् सन्ध्या नियमपूर्वक करनी चाहिए)। यदि जड़ ही कट गयी तो शाखाएँ और पत्र हो ही नहीं सकते।